

# लोकविद्या स्वराज

ललित कुमार कौल

लोकविद्या जन आन्दोलन

D.No. 10-100, New Gaddiannaram, Behind Shivaganga  
Theaters

Saroornagar (M), R.R. Dist. Telangana-500060

Ph: 040-24152155 e-mail: tnrkoundinyasa@yahoo.com

प्रस्तावना

## लोकविद्या स्वराज दर्शन:

लोकविद्या स्वराज भारतीय समाज को विद्या (हुनर अथवा ज्ञान) के आधार पर संगठित करने का एक नया दर्शन (फलसफ़ा) है। इस दर्शन का आधार यह है कि लोगों के द्वारा हासिल की गयी विद्या जिसका उपयोग वह अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं, मज़हब, जाति, या लिंग विशिष्ट नहीं है। समाज का एक उपयोगी सदस्य बनने के लिए हर व्यक्ति विद्या (हुनर/ज्ञान) हासिल करना चाहता है, किसी मनपसंद पेशे से जुड़ना चाहता है क्योंकि ऐसी उपलब्धि उसे एक अद्वितीय पहचान दिलाती है। बहुमूल्यज्ञान के विभिन्न रूपों के बीच किसी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं होती, बल्कि एक अंतिम गंतव्य-सभ्य समाज की स्थापना के कार्य को निरंतर आगे बढ़ाने के लिए आपसी तालमेल का भाव रहता है। ज्ञान का विकास समस्याओं के समाधान से जुड़ा है। जिस किसी व्यक्ति में इन समस्याओं को समझने और उनका हल निकालने की जिज्ञासा और क्षमता रहती है उसके भीतर विद्या विकसित होती है और ऐसा होना किसी भी मज़हब, जाति और लिंगके आधीन नहीं।

मानसिक संकाय किसी भी मज़हब, जाति, नस्ल, रंग, भौगोलिक क्षेत्र अथवा लिंगके आधीन नहीं है। इसलिए एक भौगोलिक क्षेत्र में विकसित हुई विद्या (इसके आधार और स्वरूप) को किसी विदेशी मानदण्ड के खिलाफ परखने का कोई मूलधार नहीं है। यदि समाज में विकसित ज्ञान (विद्या अथवा हुनर) प्रासंगिक है, तो वह निर्विवाद ज्ञान है और किसी भी अन्य प्राधिकारी से कोई प्रमाण पत्र लेने की आवश्यकता नहीं है। समकालीन ज्ञान भावी पीढ़ी के लिए चाहे किताबों में दर्ज हो या मौखिक रूप से बयाँ किया गया हो विद्या की सत्यता तरीकों के आधीन नहीं है।

एक सभ्य समाज में अपनी छोटी और लंबी अवधि की आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में योगदान करने के लिए हर व्यक्ति को अवसर प्रधान होने चाहिए और ऐसा केवल तब संभव है जब उसे हुनरमंद बनने के अवसर प्राप्त हों। इस प्रकार के अवसर किसी मज़हब, जाति अथवा लिंग के मोहताज़ नहीं।

यदि समाज के लिए उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने के रास्ते उपलब्ध न हों तो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान से लोग वंचित रह जाते हैं और संभवतः ईमानदारी से रोजगार कमाने के साधनों से भी।

व्यक्ति का जन्म से किसी मज़हब, जाति अथवा लिंग से जुड़ना महज़ एक इत्तफ़ाक है जबकि किसी विशेष विद्या, हुनर अथवा ज्ञान की ओर निष्ठा एक व्यक्तिगत रुचि/ प्रवृत्ति का

प्रमाण है –सामाजिक और मज़हबी वर्गीकरण के बावजूद भी। इसलिए मज़हब और जाति के स्वयं घोषित संरक्षकों द्वारा किये गये और किये जा रहे अत्याचारों और पुरुषों की महिलाओं से स्वयं घोषित श्रेष्ठता से प्रेरित नारी शोषण को केवल ज्ञान आधारित पहचान पे संगठित समाज में रोका जा सकता है।

ज्ञान का निरंतर विकास समाज को लगातार धीरे धीरे लेकिन निश्चित रूप से निम्न से उच्च स्तर की जागरूकता की स्थिति में परिवर्तन करता है। समाज में लोकहित के लिए निरंतर बदलाव केवल ज्ञान के बल पर ही संभव है क्योंकि यह किसी मज़हब , जाति अथवा लिंग को नहीं पहचानता. लोकविद्या स्वराज का मूलधार ज्ञान, लोगों में इसे हासिल करने की और इसके बल पर समस्याओं का समाधान करने की क्षमता है।

इस पुस्तिका में निम्नलिखित विषयों पे लोकविद्या स्वराज के नज़रिए से विचार रखे गये हैं :

- लोकविद्या-स्वराज और लोकतंत्र
- समाज
- भारतीय लोकतंत्र
- लोकविद्या विचार
- सभ्य समाज का लोकविद्या दर्शन
- लोकविद्या-स्वराज की सामाजिक आधारशिला के सिद्धांत
  - पुरुष और स्त्री का रिश्ता
  - नारी का स्थान
  - आदिवासी किसान और कारीगर समाज
  - दलित समाज
  - मज़हबों के बीच का सामंजस्य
- पंचायतें और जन प्रतिनिधि

## लोकविद्या-स्वराज और लोकतंत्र

लोकविद्या-स्वराज और लोकतंत्र दो अलग अलग दर्शन हैं। लोकविद्या-स्वराज में लोकतंत्र निहित है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि लोकतंत्र में स्वराज निहित हो। जहां स्वराज की व्यवस्था समाज की आकांक्षाओं और उनसे जुड़ी प्राथमिकताओं को आकार देने हेतु प्रतिबद्ध होती है, वहीं लोकतांत्रिक व्यवस्था राष्ट्र के द्वारा निर्धारित लक्ष्य और उनसे जुड़ी प्राथमिकताओं को आकार देने हेतु प्रतिबद्ध होती है, और यह कतई जरूरी नहीं कि राष्ट्र द्वारा निर्धारित लक्ष्य समाज की आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करते हों। हमारे देश की व्यवस्थागत क्रियाओं में तो लोगों की आकांक्षाओं या प्राथमिकताओं का ऐसा कोई प्रतिबिंब निश्चित ही नहीं दिखाई देता

आज यह आम राय है कि स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र की क्रियाएं इसकी सार्वजनिक रूप से प्रचलित पश्चिमी परिभाषा - "जनता का, जनता के द्वारा, और जनता के लिये राज्य" - के तहत तक नहीं हैं। वैसे भी लोकतंत्र में प्रशासन प्रणालियों का दायित्व केवल इतना ही है कि वे जनता का औपचारिक रूप में प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं द्वारा बनायी गयी योजनाओं को कार्यान्वित करें। हमारे देश में स्थिति यह है कि जिस संसद का निर्माण जनता वहाँ अपने प्रतिनिधियों को सांसद के रूप में भेजकर करती है, वही संसद वित्त, जल, जंगल, जमीन, और प्राकृतिक संसाधनों जैसी सार्वजनिक संपत्ति से उसी जनता को बेदखल करने से तक नहीं कतराती। लोकतंत्र के रूप में एक ऐसी व्यवस्था अस्तित्व में आयी है जिसमें पूंजीपतियों और सरकारों द्वारा संचालित उद्योग इस्तेमाल की हर छोटी-बड़ी वस्तु का निर्माण करते हैं, और इन्हीं द्वारा संचालित और नियंत्रित बाजारों में इन वस्तुओं की बिक्री भी होती है। ऐसी व्यवस्था में या तो उत्पादक वर्गों के ज्ञान और श्रम का शोषण हुआ है या फिर उनको उत्पादन की प्रक्रिया से ही पूर्ण रूप से बेदखल कर दिया गया है। अस्सी प्रतिशत जनसंख्या इस व्यवस्था से पीड़ित है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने स्वतंत्रता संग्राम के बीच स्वराज की बात की थी। गांधीजी ने पीड़ित और शोषित भारतीय समाज की प्रगति और समृद्धि के लिये ग्राम-स्वराज का नज़रिया स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं और दुनिया के समक्ष रखा था। इस नज़रियेसे प्रेरित कई महत्वपूर्ण रचनात्मक और अन्य कार्योंको भी उन्होंने अंजाम दिया था। लेकिन स्वतंत्र भारत की सरकार और शासक वर्ग ने ग्राम-स्वराज दर्शन को सिरे से ही दर-किनार कर दिया। परिणामवश आज के भारत में अस्सी प्रतिशत जनसंख्या पीड़ित, शोषित, और सभ्य जीवन जीने की मामूली सुविधाओं से तक वंचित है।

लोकविद्या-स्वराज ऐसा लोकतांत्रिक विधान है जो लोकविद्या समाज को खुद अपना भविष्य तय करने की खुली आज़ादी प्रदान करता है।

**समाज**

समाज का अस्तित्व किसी राष्ट्र के कारण नहीं होता; बल्कि राष्ट्र की स्थापना समाजों को संगठित करने से होती है। सभ्यताएं समाजों की देन हैं राष्ट्र की नहीं। सभ्यता समाज की अभिव्यक्ति है, किसी राष्ट्र की सन्तान नहीं। समाज सभ्यता के माध्यम से ही संसार के रूबरू होता है। राष्ट्र केवल विभिन्न सभ्यताओं को अपने में समेट भर सकता है। यदि कोई राष्ट्र, लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही क्यों न हों, अपने निर्धारित लक्ष्य को पाने के लिए अपने समाजों से जुड़ी सभ्यताओं को नकारता है, तो सिर्फ उसके पतन का मार्ग ही शेष रह जाता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास से ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक का अखंड भारत, मुगलों का हिंदुस्तान अंग्रेजों का इंडिया, और स्वतंत्र भारत राष्ट्र, इन सब की भू-राजनीतिक सीमाएं एक समान नहीं हैं। राष्ट्र की सीमाओं में वक्त के साथ बदलाव दुनिया के हर महाद्वीप में देखने को मिलता है। लेकिन समाजों में एक प्रकार की निरंतरता बनी रहती है। बशर्ते साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य से उनका पूर्ण रूप से संहार न किया गया हो जैसा कि अमेरिकी महाद्वीप के रेड इंडियन समाज के साथ हुआ। इसलिए समाजों का अस्तित्व राष्ट्र की तुलना में कहीं अधिक यथार्थवादी है। यह स्वभाविक भी है क्योंकि राष्ट्र समाजों पर आधारित है, न कि इसके उलटे। इसलिए जब सभ्यता का, सभ्य समाज का, या इसपर आधारित सभ्य राष्ट्र का जिक्र होता है, तो यह तथ्य साफ तौर पर सामने आता है कि उसका निर्माण केवल तब ही संभव है जब उन समाजों द्वारा स्वीकृत रोजमर्रा की सभी सार्वजनिक और प्रशासकीय क्रियाओं में प्रगति से सम्बंधित उनकी अपनी आकांक्षाओं को अटल और महत्वपूर्ण स्थान मिले। अर्थ यह कि जन-समुदायों को निरंतर यह तय करते रहने का मौका हो कि वे विकसित होने हेतु कौनसे मार्ग अपनाना चाहते हैं। यह नहीं कि इस मार्ग का चयन कोई राजा, या फिर कोई संसद ही करे। संसद या राजा का दायित्व तो केवल समाज द्वारा निश्चित मार्ग के निर्माण हेतु संस्थाओं को वजूद में लाने का है, और इससे अधिक कुछ नहीं!

## भारतीय लोकतंत्र

भारत एक गणतंत्र है जिसकी नींव लोकतंत्र पर है। लेकिन लोकतंत्र की क्रियाओं का दायरा लगातार सिकुड़ता ही गया है। जहां तक सारे समाज की दखल की बात है, लोकतंत्र सिर्फ चुनावों की प्रक्रिया तक सीमित है। चुनावों के पश्चात जिस भी राजनीतिक दल की सरकार सत्ता में आती है और जो कुछ भी तय करती है, उसमें जन-समुदाय की कोई पहल, कोई भूमिका नहीं होती। विभिन्न पेशों और वर्गों के लोग अपना अपना दृष्टिकोण सरकार तक पहुँचाने हेतु चाहे कितने और कैसे ही संघर्ष करें, सरकार के बर्ताव पर इसका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। चुनावी प्रक्रिया का फलसफा और उससे जुड़ी राजनीति इसका एक बड़ा कारण है।

यह सार्वजनिक तथ्य है कि दलों की राजनीति ने भारतीय समाज को मज़हब, जाति, और लिंग के आधार पर वर्गीकृत किया है। यह समाज के विभाजन की राजनीति है। सभी राजनीतिक दल किसी न किसी मज़हब या जाति के ठेकेदार बने बैठे हैं। ये सभी एक को दूसरे के खिलाफ उकसाने की राजनीति करते हैं। एक ही परिवार के सदस्यों के बीच भी विभाजन की राजनीति इन्होंने की है। सभी राजनैतिक दलों के अधिकतर सदस्यों के लिए राजनीति का अर्थ सिर्फ निजी वोट-क्षेत्रों के निर्माण और उनको सुरक्षित रखने तक सिमट कर रह गया है। देश को किस विनाशकारी मार्ग पर चला दिया गया है इस विषय पर ये नेतागण शायद ही कभी गौर करते हों! यह राजनीति अपना चरम जनसंख्या के बहुत बड़े हिस्से को फ़िछड़ा वर्ग घोषित करने और इसके पश्चात उनके विकास का डंका पीटने में देखती है।

संसद और विधान सभा के चुनावों हेतु देश का सीमांकन कई क्षेत्रों में किया गया है। हर क्षेत्र में राजनीतिक दल अपना अपना प्रतिनिधि चुनते हैं जो चुनाव लड़ते हैं। इनका चयन मज़हब जाति, पिछड़ा वर्ग, आदि के आधार पर होता है, लेकिन इन्हें जन-प्रतिनिधि कहा जाता है। कई कानूनी मुजरिमों का भी चयन हो जाता है। किसी भी प्रतिनिधि का चयन करते समय मात्र उसके चुनाव जीतने की सम्भावना, या महारत को ही देखा जाता है। करोड़ों रूपयों की लागत इन चुनावों में लगती है, और यह बात आम है कि इसकी पूर्ति बड़े पैमाने पर उद्योगपतियों और पूंजीपतियों के योगदान से होती है। इस योगदान का कोई आकलन नहीं है। न कभी इसको जानने का प्रयास ही किया गया है। विशेषज्ञों का मानना है कि काले धन की उत्पत्ति का मौलिक कारण यही है। सरकारी कोष से भी इसका भुगतान होता है।

इस चुनाव प्रक्रिया की सबसे बड़ी खामी यह है कि लाखों की आबादी के चुनावी क्षेत्र का प्रतिनिधत्व ऐसा कोई एक सफल प्रत्याशी करता है जिसका संबंध किसी न किसी राजनीतिक

दल से होता है। सवाल यह है कि, कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसका जनता से कोई सीधा संपर्क नहीं है, लाखों लोगों का प्रतिनिधित्व कैसे कर पायेगा। जिसका किसी क्षेत्र के लोगों से किसी भी प्रकार का सीधा संपर्क न हो वह व्यक्ति उनकी मुरादों, जरूरतों और आकांक्षाओं को भला कैसे समझ पायेगा? कैसे उनकी खुशहाली और विकास के लिए नीतियों का चयन करेगा? कैसे उनकी मताओं को संगठित कर एक सार्थक दिशा दे पायेगा? यह कभी भी संभव नहीं।

सत्य तो यह है कि ऐसा व्यक्ति जन-प्रतिनिधि है ही नहीं, बल्कि दल-प्रतिनिधि है और इसलिए उसकी निष्ठा उसके दल के ही प्रति बनी रहती है; या टूटती भी है तो उसी जैसे किसी दूसरे दल की हो जाती है। परिणामवश जो भी योजनार्ये उसका दल अपनी सरकार के निर्माण हेतु बनाता है, वह केवल उनका समर्थन करता है। फिर चाहे उसके चुनावी क्षेत्र की जनता को इससे कोई लाभ हो या न हो; या भले ही इससे उसकी हानि ही क्यों न हो। यह भी सरे आम होता आया है कि जब भी किसी दल से जुड़े नेता या कार्यकर्त्ता ने सरकार या दल की नीतियों का विरोध किया तो उसे दल से ही खारिज कर दिया गया।

**असभ्य उसूलों पर आधारित राष्ट्र**



अंग्रेजों ने उनके शासनकाल में तत्कालीन भारत में स्थित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, और राजनीतिक व्यवस्थाओं का पूर्ण रूप से विनाश किया। उनका लक्ष्य ही यह था। उन्होंने बड़े व्यवस्थित तरीके से उनकी विश्वदृष्टि, ज्ञान, विज्ञान, शिल्पविज्ञान आदि को भारतीय समाज पर न केवल थोपा बल्कि इनके माध्यम से उसका अभूतपूर्व शोषण भी किया। उन्होंने ऐसी शिक्षा का प्रसार किया जिससे उनके इस लक्ष्य की पूर्ति हो। इसके लिए स्कूलों और कालेजों की स्थापना की, और यह घोषित कर दिया कि शिक्षा के आदान-प्रदान की दृष्टि से युगों से सक्रिय भारतीय व्यवस्थाएँ एक सभ्य समाज के निर्माण से असंगत हैं। भारतीय विद्या का संहार भारतीय समाज को जड़ से उखाड़ने की योजना थी। इन्हीं नीतियों के अंतर्गत पिछड़े वर्ग की अवधारणा का जन्म हुआ और भारतीय समाज को नए सिरे से परिभाषित करने के षडयंत्र का भी!

स्वतंत्र भारत के शासकों ने अंग्रेजों की सोच को बरकरार रखते हुए इससे उत्पन्न हुए शोषण को नज़रन्दाज कर दिया। जिस ज्ञान, विज्ञान, शिल्पविज्ञान, और विश्वदृष्टि के कारण से सन् १६९५ तक दुनिया के कारोबार में भारत का हिस्सा ३० प्रतिशत हुआ करता था उसे सिरे से नकारा गया। परिणामवश सन् १९४७ में दुनिया के कारोबार में भारत का हिस्सा मात्र ४.५ प्रतिशत रह गया। भारतीय समाज के शोषण का दायित्व अब उन नेताओं ने संभाला जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया था। धर्मवाद और जातिवाद की राजनीति की जड़ों को मजबूत करने के निरंतर प्रयास होते रहे। ऐसी राजनीति की सफलता का कारण है भारतीय समाज से जुड़े अनेक जाति और मज़हब के लोगों को समाज की निर्माण सम्बंधित गतिविधियों से परे रखना, उन्हें निष्क्रिय बना देना और साथ ही साथ एक ऐसे छोटे से छोटे वर्ग को, जो अंग्रेजी शासन और निर्माण के तौर तरीकों में निपुण था, भारतीय समाज और राष्ट्र को संचालित करने का दायित्व सौंपना। केवल ऐसे माहौल में राजनीतिक दलों पर आधारित लोकतंत्र फलता फूलता है।

भारतीय समाज विविधतापूर्ण समाज है और सदियों से ऐसा ही रहा है। अंग्रेजों द्वारा स्थापित समाज संचालन और शासन के तौर तरीकों को स्वतन्त्र देश की सरकार द्वारा दिए गए सक्रिय प्रोत्साहन से उत्पन्न परिस्थितियों में देश के इन विभिन्न समाजों को अज्ञानी, अशिक्षित, और अन्धविश्वासी घोषित किया गया। सार्वजनिक सामाजिक जीवन में उनकी पहल को सर्वथा नकारा गया। भारतीय समाज के बड़े हिस्से को 'पिछड़ा वर्ग' करार दिया गया। लम्बे स्वतंत्रता संग्राम के बल पर स्वतन्त्र हुए किसी भी राष्ट्र की सरकार ने अपने ही बहुसंख्य लोगों के बारे

में व्यवस्थित तरीके से इस प्रकार का रुख अपनाना राष्ट्रों के इतिहास में इससे पहले शायद ही कभी हुआ हो। इसके पश्चात इस अज्ञानी जनता को समझाने वाला, इनमें अकल पिराने वाला, इनको अन्धविश्वास के अंधेरी से उबारने वाला कोई तो मसीहा चाहिए था! तो मसीहों की भूमिका निभाने का दायित्व अलग अलग राजनीतिक दलों ने संभाला। कहने को तो इनकी विचारधाराएँ अलग अलग थीं लेकिन वास्तविकता में सब का लक्ष्य था भारतीय समाजों का शोषण - और आज भी है। नेताओं और उनके कार्यकर्ताओं ने कूट-कूट कर यह धारणा जनसाधारण में भर दी कि उनका कल्याण सिर्फ और सिर्फ अंग्रेजों के दिखाये हुए रास्तों का अनुसरण करने में है।

यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि, समाज को संगठित कर उसका पुनर्निर्माण करने के लिए जरूरी वैचारिक आधार के रूप में पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही हमारे समाज की कसौटियों पर खरे नहीं उतरते। इन दोनों प्रणालियों में समाज की प्रगति सम्बंधी नीतियों, निर्णयों और क्रियाओं में जनता का कोई योगदान नहीं होता। सब कुछ या तो सरकारें तय करती हैं या फिर पूँजीपति तय करते हैं। इन दोनों के बारे में जो सार्वजनिक है वह यह कि इन व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों का उद्योगपतियों से अटूट और मजबूत रिश्ता बना रहता है और हर प्रकार की आयोजित निर्माण प्रक्रिया में झुकाव उद्योगपतियों के हित अबाधित रखने की ओर रहता है, और हमेशा रहेगा।

समाज के शोषण और जनसमुदाय को उनके अधिकारों से वंचित रखने हेतु भारतीय संविधान सरकारों को जंगल, ज़मीन, जल, और आकाश पर निर्विवाद अधिकार प्रदान करता है। मनमानी करने का और समाजों की ज़रूरतों को पूर्णतया नज़रंदाज़ करने का ऐसे अधिकारों जितना कार्यक्षम अन्य कोई जरिया शायद ही हो! 'लोकतंत्र' को पूर्ण रूप से अर्थहीन करने की यह योजना है। यह राजनीति सरकार और पूँजी के स्वामियों द्वारा देश भर में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों, तथा जल, जंगल, जमीन, वायु, और आकाश पर एकाधिकार की राजनीति है। यह अनिवार्य है कि इस राजनीति को कार्यान्वित करने के लिए समाज को मज़हब, जाति, पिछड़ा वर्ग, और लिंग के आधार पर विभाजित रखा जाय। यही होता आया है।

पिछले ६५ सालों का अनुभव यह बताता है कि विकास और प्रगति के नाम पर किसानों, आदिवासियों की ज़मीनें उनसे छीनी गयीं। लोगों से उनके मकान छीने गये। कारीगरों से उनके व्यवसाय के साधन छीने गये। हुनरमंद लोग न केवल मज़दूर बन कर रह गये बल्कि उनके

रोजगार के साधन भी अनिश्चित हो गये। जो समुदाय आत्मनिर्भर थे वह सरकार के रहम-औ-करम के अधीन हो गये।

सरकार द्वारा इस प्रकार की क्रियाएं केवल असभ्य शासन का प्रतीक हैं। सब से बड़ कर अक्षम्य जो असभ्य नीति रही है वह है एक व्यक्ति के और उसकी आने वाली पीढ़ियों के जीवन को पैसों में तोलना। हैरत यह है कि संविधान इसकी अनुमति देता है। जो लोकमत के बल पर संसद में विराजमान रहे उन्होंने ऐसा असभ्य कानून संसद में पारित किया और सर्वोच्च न्यायालय ने इसकी पुष्टि भी की। इसलिये यह मानना गलत न होगा कि भारत राष्ट्र की नींव ऐसे असभ्य असूत्रों पर रखी गयी है जिनके आधार पर भारतीय समाजों का कल्याण कतई नहीं हो सकता।

**लोकविद्या-विचार**

लोकविद्या-स्वराज की अवधारणा लोकविद्या की नींव पर खड़ी है। इसमें यह माना जाता है कि किसी भी समाज की पहचान उसमें बसे लोगों के विभिन्न मज़हबों और जातियों से नहीं होती, बल्कि उनमें निहित विद्या से होती है। यह विद्या समाज में बसती है; यह लोकविद्या है। लोकविद्या विचार की मूल मान्यताएं कुछ इस प्रकार की हैं:

- समाज में लोगों के पास जो ज्ञान होता है वह सब मिलजुल कर लोकविद्या है।
- लोकविद्या कॉलेज और विश्वविद्यालय से बाहर, समाज में ही बसती है।
- विश्वविद्यालय में न जाने मात्र से लोग अज्ञानी नहीं हो जाते। ये सब समाज से ज्ञान और विद्या हासिल कर अपनी जीविका चलाते हैं। ये सभी लोकविद्या के स्वामी हैं, लोकविद्याधर हैं!
- किसान, हर तरह के कारीगर, आदिवासी, मरम्मत और सेवा का कार्य करने वाले, छोटे दुकानदार, महिलायें, लोक-कलाकार, मोहल्लों-घरों-गलियों-पर्यावरण को साफ़ सुथरा रख समाज को स्वस्थ रखने वाले कर्मचारी - ये सब समाज से ज्ञान हासिल करते हैं और इस ज्ञान के बल पर अपनी जीविका और समाज चलाते हैं। ये सब मिलकर लोकविद्या-समाज बनाते हैं।
- लोगों के सोचने का तरीका, समाज के मूल्य, तर्क की विद्यायें, संगठन का विचार, आपस में और प्रकृति के साथ उनके रिश्ते तथा उनकी जानकारियाँ, हुनर व दर्शन सभी कुछ मिलकर बनी ज्ञान की जो दुनिया है वही लोकविद्या की दुनिया है।
- लोकविद्या समाज में बसती है। इसे किसी जाति, मज़हब, किताब, ग्रंथालय, विश्वविद्यालय या कंप्यूटर में बांधा नहीं जा सकता। यह लोगों के बीच ही जिन्दा रहती है और वहीं पनपती है।
- लोकविद्या नित नवीन होती है। अपनी और समाज की ज़रूरतों के चलते लोग अपने अनुभव के आधार पर अपनी तर्क-बुद्धि और प्रयोगों के जरिये लोकविद्या में सतत इजाफा करते हैं।
- लोक-शक्ति का आधार लोकविद्या में ही है। लोकविद्या के बल पर केवल रोजमर्रा की जीविका ही नहीं चलती, बल्कि प्रकृति से और मनुष्यों से आपसी संबंध बनते हैं सही-गलत की पहचान की जाती है, अन्याय का मुकाबला किया जाता है और मूल्यों व तर्कों की बुनावट से समाजों की अपनी विश्वदृष्टि बनती है।

- लोकविद्या श्रम और बुद्धि को अलग-अलग नहीं करती। किसी मानवी कार्य को केवल श्रम का कार्य नहीं मानती, बल्कि उसमें श्रम और ज्ञान का मेल देखती है। दूसरे शब्दों में लोकविद्या मेहनत का काम करने वाले किसी भी व्यक्ति को मात्र मजदूर नहीं बल्कि ज्ञानी व्यक्ति मानती है।

लोकविद्या विचार समाज को लोकविद्या-समाज के रूप में संगठित करता है; शोषण के विचार पर खड़ी वर्तमान राजनीति से प्रेरित उसके पिछड़ेपन की नारेबाजी को नकारता है; निरंतर मज़हब, जाति, लिंग, और आधुनिक शिक्षा के आधार पर समाज के विभाजन की भर्त्सना करता है। लोकविद्या-समाज का गौरव लोकविद्या में है। समाज से जुड़े हर मज़हब, जाति, वर्ग के लोग एक दूसरे से अपनी अपनी विद्या के बल पर जुड़े होते हैं और इसी कड़ी के जरिये एक साथ सारे समाज के निर्माण और उसकी खुशहाली में निजी योगदान देते हैं। लोकविद्या विचार समाज में ज्ञान हासिल करने के सभी तरीकों को समानता की दृष्टि से देखता है, और सरकारों और राजनीतिक दलों की थोपी हुई उस मान्यता को सर्वथा नकारता है जिसके अनुसार विद्या केवल स्कूलों और कोलेजों में ही हासिल होती है। लोकविद्या विचार यह घोषित करता है कि समाज में कोई अज्ञानी नहीं, और इस आधार पर लोकविद्या-समाज में सार्वजनिक रूप में वह आत्मविश्वास, और आत्म-सम्मान जगाने का दायित्व उठाता है जो लोकविद्या स्वराज की नींव होगा।

## सभ्य समाज का लोकविद्या-दर्शन

प्रकृति और लोकविद्या का विशेष मेल है। प्रकृति जिसे जन्म देती है उसे अपने में ही समेटती है; उसी प्रकार लोकविद्या का जन्म जिस समाज में होता है उसी समाज में वह घुलमिल जाती है। जैसे प्रकृति में नित्य नवनिर्माण होता रहता है वैसे ही लोकविद्या में होता है। लोकविद्या नित नवीन होती है। लोग अपनी और समाज की ज़रूरतों के चलते अपने अनुभव के आधार पर तथा अपनी तर्क-बुद्धि और प्रयोगों के जरिये लोकविद्या में सतत इजाफा करते रहते हैं। जैसा कि तथाकथित 'पिछड़े' वर्गों के लोगों ने, मज़हब और जाति के घेरों से ऊपर उठकर, नये शिल्पविज्ञान और अभियान्त्रिकी से निर्मित उत्पादों - जैसे मोटर-कार, स्कूटर आदि - का ज्ञान बिना किसी विद्यालय में दाखिला लिये हासिल किया है। इनमें किसी प्रकार की खोट आने पर इन्हें दुरुस्त करने के काम में तो इन्हें महारत हासिल है। यह करना तो इस देश के विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित अभियंता तक के बस की बात नहीं। नागरिक अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में भी यह अक्सर देखा जाता है कि कैसे 'अशिक्षित' और 'अन्धविश्वासी' समाजों के परिवारों से आनेवाले ये लोग ऊँची-ऊँची इमारतों का निर्माण करते हैं, सीमेंट, रेत, इस्पात, और बजरी का मिश्रण कितनी मात्रा में करना है यह जानते हैं, और बिना किसी आर्किटेक्ट या सिविल इंजिनियर की सहायता के दो-तीन मंजिला ईमारत सहजतासे खड़ी कर सकते हैं। इतना ही नहीं, अक्सर बाजार में अभी-अभी आई नई चीजें या सामान वे कर रहे काम में लाभदायक, टिकाऊ, उपयुक्त हैं या नहीं इसपर सटीक राय भी रखते हैं। अधिकतर मामलों में यह विद्या इन्होंने किसी विद्यालय से, या वहाँ शिक्षित अन्य लोगों से नहीं पाई, बल्कि अपने साथियों और रोजमर्रा के अनुभव से पाई होती है। इसी प्रकार ग्रहण की गयी विद्या के बल पर यह रोजगार कमाते हैं, और कोई अवैध काम नहीं करते। स्वास्थ्य के क्षेत्र में तो यह आम लोगों का अनुभव है कि बहुजन समाजों के नाडीवैद्य बिना किसी महँगी आधुनिक यांत्रिक टेस्ट के, सिर्फ नाडी परीक्षा के बलपर बीमारी की न सिर्फ सटीक पहचान कर सकते हैं, बल्कि उतना ही सटीक इलाज! कई बार यह देखने में आया है की इस प्रकार के ज्ञान में पांडित्य रखने वालों की शहरों के मध्यम वर्गों में बढ़ती लोकप्रियता से डरकर कॉलेजों में पढ़े डॉक्टर उनको अपने क्षेत्र से खदेड़ने के लिए पुलिस और दमनकारी कानून की शरण लेने से तक नहीं कतराये। हमारे देश में इस प्रकार के उदाहरणों की कोई कमी नहीं। क्या कोई सभ्य समाज उसमें निहित ज्ञान की परिपक्वता, उपयुक्तता, उपयोगिता या उसमें घुली सामाजिकता को अस्तित्व मजबूत करने और अपना भविष्य संवारने के परिप्रेक्ष्य में नजरंदाज कर सकता है या उसके महत्व को कम तक आंक सकता है? जो समाज यह करेगा वह सभ्यता ही नहीं, विवेक की कसौटी पर भी नहीं टिक

सकेगा। लेकिन हमारे समाज में वर्तमान व्यवस्था यही करने की पक्षधर है। लोकविद्या स्वराज की नींव तो इस स्थिति को पूर्णतया उलट कर ही हो सकती है।

लोकविद्या-स्वराज की अवधारणा निम्नलिखित मान्यताओं पर टिकी है।

- किसी भी समूह, संस्था, संवैधानिक इकाई, या फिर राष्ट्र का कुदरती संसाधनों पर एकाधिकार नहीं हो सकता। अर्थात् जल जंगल, जमीन, वायु, आकाश, भूगर्भ या पर्यावरण में छुपे संसाधनों पर विविध समाजों से जुड़े लोगों का बराबर का अधिकार है। यह अधिकार किसी सामाजिक पद या आर्थिक क्षमता के अधीन नहीं है। किसी एक या अनेक राजनीतिक विचारधाराओं के अधीन नहीं है। किसी प्रमुख प्रधान, या केन्द्रीय संगठन को यह तय करने का एकाधिकार नहीं कि प्राकृतिक संसाधनों का वितरण समाज और राष्ट्र के विकास हेतु किस प्रकार से हो। यह अधिकार सिर्फ राष्ट्र से जुड़े अनेक समाजों का है। वे किस प्रकार से और किस उद्देश्य से इनका इस्तेमाल करना चाहते हैं, और आपसी समझौतों के अनुसार इनका वितरण खुद के और दूसरों के इस्तेमाल के लिये कैसे करते हैं, यह तय करने का हक भी केवल विभिन्न समाजों का ही है।
- सामाजिक विकास की परिभाषा कोई बाहरी विचारधारा, दर्शन, या किन्हीं बुद्धिजीवियों की सोच के अधीन नहीं है। राष्ट्र से जुड़े हर समाज को यह स्वतंत्रता है की वे अपनी-अपनी जरूरतों, आकांक्षाओं, और प्राथमिकताओं के आधार पर विकास के फलसफों की स्पष्ट व्याख्या करें और उन्हें कार्यान्वित करने हेतु ऐसी संस्थाओं का निर्माण करें जिनमें हर जाति, वर्ग, मज़हब, और लिंग के लोग निजी ज्ञान के बल पर सम्मिलित हो सकें। हर पुरुष, स्त्री, बूढ़ा और युवा विकास के कार्यों में जुट सके। विकास के होते संस्कृति और प्रकृति में संतुलन बना रहे।
- चाहे वह किसी भी मज़हब, जाति, या लिंग का क्यों न हो हर एक को अपनी इच्छानुसार ऐसी विद्या को हासिल करने का मौलिक अधिकार है जिसमें उसकी रूचि है और जो उसके समाज के विकास हेतु संगत है। किसी भी समाज को व्यवस्थित करने का यह सबसे अहम् स्तंभ इसलिए है कि ज्ञान के बल पर ही पूर्णतया सक्रिय समाज की स्थापना हो सकती है। एक संगठित और भेद भाव रहित समाज की अवधारणा ऐसे स्तंभ के बिना असंभव है। ज्ञान बाँटने और हासिल करने के ऐसे

तरीकों को, जिनसे लोकविद्या के क्षेत्र विकसित हों ताकि हर समाज नयी चुनौतियों का सामना और समाधान कर सके, कार्यान्वित करने का काम भी सिर्फ ज्ञान की उन विधाओं से जुड़े जन-समुदायों का है।

- विविध तरीकों और माध्यमों से अर्जित सभी विद्या एक समान है। विद्या श्रेष्ठ या निम्न नहीं होती। इसलिए वह विचारधारा, जो विद्यालयों से अर्जित विद्या को श्रेष्ठ और समाज में बड़ों और अनुभवी सदस्यों से प्राप्त की गयी विद्या को तुच्छ मानती हो, विवेकहीन है। जिस विद्या के होते समस्त समाज विकास की गतिविधियों में सक्रिय रहे, वह विद्या प्रासंगिक है क्योंकि इसमें समाजों की समस्याओं का समाधान करने की योग्यता निहित है। लोकविद्या इसलिए संगत है क्योंकि यह हर सामाजिक बंधन, आस्था, और अनुभव से हो कर उबरती है। इसके ज्ञानी हर पल और आजीवन अपने समाज से जुड़े रहते हैं और इसका नित्य निर्माण करते रहते हैं।
- विद्या के कई अलग अलग क्षेत्र हैं। जैसे, चिकित्सा विद्या, शिल्पकारी की विद्या, अभियान्त्रिकी विद्या, किसानों की विद्या, बुनकर की विद्या इत्यादि। सामान्य तौर पर एक चिकित्सा कर्मी किसानों नहीं कर सकता, और न एक किसान चिकित्सा सम्बंधी कार्य। इसलिए हर प्रकार की विद्या का अपना महत्व है क्योंकि वे सभी समाज के लिए आवश्यक हैं। इसलिए किसी भी समाज में अलग अलग विद्याओं के स्वामी बराबरी के सामाजिक स्थान और सम्मान के अधिकारी हैं। विद्यार्जन के स्थान और तरीके कोई निर्णायक महत्व नहीं रखते, बशर्ते कि वे सार्वजनिक और सामाजिक हों।
- किसी क्षेत्र में बसे समाज की प्रकृति में छुपे रहस्यों की समझ, उनका प्रकृति से रिश्ते का आधार, संस्कृति और प्रकृति में संतुलन बनाये रखने की उनकी सोच, मानव समाज के पशु-पक्षी और वनस्पति जगत से रिश्तों की उनकी समझ तथा उनकी मानव जीवन के लक्ष्यों के बारे में सोच - ये सब और कई अन्य आयामों के जुड़ने से उनकी विद्या और ज्ञान आकार लेते हैं। क्या यह स्वाभाविक ही नहीं कि विभिन्न क्षेत्रों में मनपे ज्ञान में विविधता और अपनी विशिष्टता हो? स्वभावतः लोकविद्या हर क्षेत्र-विशेष से जुड़ी है और इसके अनेक प्रकार हैं। अलग-अलग क्षेत्रों की आपसी क्रियायों के चलते लोकविद्या की इन विशिष्ट विधाओं में निरंतर वृद्धि और विचारों अवधारणाओं तथा तरीकों के लेन-देन की संभावनाएं बनी रहती हैं।



- जीने, सम्पत्ति पैदा करने, और विद्या हासिल करने के हक एक-दूसरे से तोड़े नहीं जा सकते। यदि कोई संविधान, राजनीतिक विचारधारा या फिर मनुष्य-बुद्धि से उपजा कोई अन्य फलसफा लोकविद्या हासिल करने के तरीकों को अस्वीकार करता है, तो वो अप्रत्यक्ष रूप से जीने और समाज की खुशहाली में योगदान करने का हक भी नकारता है! कोई संविधान, राजनीतिक विचारधारा या फलसफा मनुष्य समाज की क्रियाओं में ऐसे किसी वीटो का अधिकारी नहीं हो सकता।
- निर्विवाद समाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन किये बिना निजी विद्या के बल पर हर व्यक्ति को अपने तरीके से जिन्दगी जीने का हक है। निजी जिन्दगी का मार्गदर्शन करने का हक केवल उस व्यक्ति का है, इसलिए किसी विशेष विचारधारा या नज़रिये को समाज या व्यक्ति पर थोपने की कोशिश नकार योग्य है।
- आधुनिक विज्ञान हर अनुभव आस्था और एहसास का प्रायोगिक प्रमाण मांगता है। यह तो उसके बेहद तंग नज़रिये का प्रमाण है! मनुष्य-जीवन के ऐसे कई आयाम हैं जिनको आधुनिक, या फिर लोक विज्ञान भी समझ पाने में असमर्थ है। इसलिए किसी व्यक्ति या समाज के हर प्रयास को 'विज्ञान की कसौटी' पर खरे उतरने पर ही उसे मान्यता प्रदान करने की सोच सरासर गलत ही नहीं अविवेक और अल्पदृष्टि की द्योतक है।
- मनुष्य का श्रम और उसकी बुद्धि अलग-अलग नहीं हैं। कोई भी कार्य केवल श्रम से पूर्ण नहीं होता बल्कि श्रम व ज्ञान के मेल से होता है। इसलिए मनुष्य की विशिष्ट क्रियाओं में श्रम और बुद्धि के कम-अधिक होने का विचार और उसके भी परे ऐसे किसी आधार पर उनमें किसी भी प्रकार की सामाजिक ऊंच-नीच का विचार तर्कहीन ही नहीं समाज के लिए घातक भी है। लोकविद्या-स्वराज ज्ञानी लोगों के ज्ञानी समाज का स्वराज है।

# लोकविद्या-स्वराज की सामाजिक आधारशिला के सिद्धांत

लोकविद्या-स्वराज लोकविद्याधर समाज का स्वराज है। इस अवधारणा का दावा यह है कि भविष्य में सभ्य मनुष्य-समाज

का निर्माण लोकविद्या के स्वामियों के सभी घटकों द्वारा ही संभव है। इनका ही ज्ञान और समाज जीवन वह आधारशिला देता है जिसपर सभ्य समाज मजबूती से खड़ा हो पायेगा। इस पुनर्निर्माण की समझ लोकविद्या-समाज के घटकों के विषय में विशिष्ट मान्यताओं पर टिकी है। ये मान्यताएं जिनको कुछ निम्नलिखित तरीके से रखी जा सकती हैं।

## 1. पुरुष और स्त्री का रिश्ता

एक मर्द और औरत में सब रिश्तों से बढ़कर पति-पत्नी का रिश्ता है। यह खून का रिश्ता न होते हुए भी अपनी अहमियत रखता है क्योंकि पति-पत्नी की जोड़ी मानव समाज की मौलिक इकाई है। मानव समाज का अस्तित्व उससे जुड़े परिवारों से है। परिवार का संगठित रहना या टूटना पति-पत्नी के आपसी रिश्ते पर निर्भर है। पति-पत्नी जैसे रिश्ते के बीच किसी भी प्रकार की रेखा नहीं खींची जा सकती। जो कुछ भी है वह दोनों का है, और जो दोनों का है वह परिवार का है। इसीलिए पति-पत्नी 'तेरा-मेरा' जैसी भावनाओं से परे हैं। यह रिश्ता दोनों की क्षमताओं या अक्षमताओं के अधीन नहीं; दोनों की ज्ञान सम्पन्नता या ज्ञान हीनता के अधीन नहीं; दोनों के पेशों और उनसे अर्जित आय के अधीन नहीं, बल्कि इन सब अंतरों, या असमानताओं से ऊपर है। इस रिश्ते से परिवार के संस्कार और उसकी खुशहाली और मान-मर्यादा जुड़ी हैं। सभ्य समाज के निर्माण की पहल यहीं से होती है।

## 2. नारी का स्थान

आज की दुनिया में नारी का अस्तित्व कहीं खो गया है - चाहे वह शहर या गाँव या जंगल की निवासी हो, घर संभालती हो या निजी और सार्वजनिक इकाइयों और परियोजनाओं में काम करती हों, आधुनिक या परम्परागत विचारधाराओं के अनुसार जिन्दगी जी रही हो। घर

और समाज में जिस निर्विवाद सर्वोच्च स्थान की वह हकदार है, उससे वह कई सदियों से वंचित है।

नारी मानव समाज की महत्वपूर्ण सदस्य है। वह न केवल सामाजिक रिश्तों को संभालती है बल्कि धार्मिक परम्पराओं और क्रियाओं को भी बनाये रखती है। नारी की दुनिया का विस्तार उसके परिवार की खुशहाली से जुड़ा रहता है। वह न केवल अपने परिवार का ख्याल रखती है बल्कि सगे-संबंधियों से भी नाता बनाये रखती है। अच्छी या बुरी दोनों परिस्थितियों में अपने परिवार की खुशहाली की कामना करती है, अपने परिवार के प्रति समर्पित रहती है और निष्ठावान भी।

नारी के बिना किसी घर, परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी परिवार एक समाज का अभिन्न हिस्सा तब ही बन पाता है जब वह निर्विवाद सामाजिक मर्यादाओं का कम्पेन्स पालन करता है और इसमें घर की नारी का बहुत बड़ा योगदान रहता है। परिवार के सदस्यों को एक साथ जोड़े रखना, घर की जरूरतों और प्राथमिकताओं को परिभाषित करना, घर की आमदनी को नज़रंदाज़ किये बिना सदस्यों की ज़रूरतों को पूरा करने की चेष्टा करना और हर हाल में घर की मर्यादा के प्रति सचेत रहना, ऐसे सब कार्यों में नारी अति निपुण है।

घर परिवार में सारी जिम्मेदारियां उठाने के अलावा स्त्रियाँ इस दायरे से बाहर के कार्यों से भी जुड़ी हैं। जो स्कूल और कालेजों से विद्या हासिल की हैं वह हर प्रकार के विभागों में काम करती हैं जैसे पुलिस सेना, बैंक, निजी और सार्वजनिक परियोजनाएं, इत्यादि। लोकविद्या समाज से जुड़ी नारी वर्ग की क्षमताओं पर आधारित उसके योगदान को यदि बारीकी से परखा जाये तो कुछ इस प्रकार की अनुभूति होती है :

- सभी स्त्रियाँ लोकविद्या की बेजोड़ स्वामिनी हैं। लगभग सभी स्त्रियों के पास बच्चों के पालन-पोषण, देखभाल और मनुष्य की बुनयादी संवेदनाओं के संवर्धन का ज्ञान क्षमता और समझ होती है। स्त्रियों का यह ज्ञान अब तक किसी भी सभ्यता ने नकारा नहीं है और उसे श्रेष्ठ भी माना है। आधुनिक युग ने जरूर उनके ज्ञान को कम मूल्य का और महत्वहीन माने जाने की पुरजोर कोशिश की है लेकिन ऐसी कोशिशों से उनके ज्ञान का सत्य ओझल नहीं हो जाता।

- किसान, आदिवासी और कारीगर समाजों की स्त्रियाँ इन उद्यमों के बहुत से ऐसे कार्य करती रही हैं जो उनके ही ज्ञान - क्षेत्र माने जाने लगे हैं। इनके अलावा और अपने नैसर्गिक ज्ञान के अलावा वे अपने समाजों का ज्ञान संजोने, निखारने और अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के कार्य करती रही हैं। स्त्रियाँ मनुष्य हैं एक व्यक्ति हैं, इनकी पहचान समाज में इनके ज्ञान से होती है।
- सामान्य महिलायें पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ प्राथमिक-स्वास्थ्य, खाद्य और वस्त्र निर्माण के सभी चरणों का ज्ञान और कौशल रखती हैं। हर घर की रसोई और आंगन इन क्षेत्रों में ज्ञान संपादित करने के विद्यालय और शोध की प्रयोगशालायें ही होती हैं।

दुर्भाग्यवश बाहरी व्यवस्थाओं ने लोकविद्यासमाज की प्रतिभा पर लगाई नकैल के अलावा नारी हमारे अपने समाज के अंतर्गत प्रतिबंधों से अद्वितीय प्रतिभा की स्वामिनी होकर भी हतप्रभ है। नारी समाज के ज्ञान को मान्यता प्रदान करने से ही उन्हें समाज और परिवारों के बीच सम्मान भरा स्थान मिल सकता है और इसके साथ ही आर्थिक सुरक्षा भी। लोकविद्या-स्वराज नारी के लिए समाज में उसके ज्ञान और उसकी प्रतिभा से मेलजोल के स्थान की उपलब्धि के रास्ते खोलेगा।

### 3. आदिवासी, किसान और कारीगर समाज

आदिवासी और किसान समाज प्रकृति से जुड़े हैं। जिस प्रकार का रिश्ता इनका प्रकृति से बनता है वह किसी और वर्ग का नहीं बनता। हरित-क्रांति और विस्थापन पर आधारित विकास के तरीकों ने इनके इस रिश्ते में बाधाएँ पैदा की हैं। संस्कृति और प्रकृति के बीच के संतुलन को बिगाड़ दिया है। विकास के नाम पर न केवल उपजाऊ खेतों और जंगलों को कागज़ी मुद्राओं में तौला गया, बल्कि आदिवासियों, किसानों और उनके आने वाली पीढ़ियों तक की जिंदगी का मोल लगाया गया। इस कारण इन समाजों में बिखराव है। साथ ही इनसे जुड़े कारीगर समाजों का अस्तित्व गंभीर रूप से सिमट गया है। लोकविद्या दर्शन विस्थापन से दूषित विकास की योजनाओं से कोई भी सहानुभूति नहीं रखता।

लोकविद्या-स्वराज मानता है कि प्रकृति पर किसी सरकार, समाज या वर्ग का एकाधिकार नहीं है क्योंकि इसका जन्म उनके कारण नहीं हुआ है। जीवअजीव दोनों ही प्रकृति से जन्मे हैं और माँ पर उसके बच्चों में किसी एक का एकाधिकार नहीं होता। प्रकृति के विनाश की योजनाओं में इसकी गोद में पलते जीव और अजीव दोनों का ही विनाश सुनिश्चित है। जो मानव समाज की उत्पत्ति नहीं उसका मूल्यांकन कोई व्यक्ति, समूह, या वर्ग नहीं कर सकता। किसी भी विचारधारा से प्रेरित ही क्यों न हों, सरकारें या फिर उनसे जुड़े राजनीतिक दल प्रकृति का मूल्यांकन नहीं कर सकते। जिस समाज या देश के निज़ाम में मानव जीवन और प्रकृति का मूल्यांकन किया जाये, ऐसा निज़ाम सभ्यता के विपरीत है।

जिस निज़ाम में सिर्फ किसी एक प्रकार के विकास के फलसफे, ज्ञान, विज्ञान और विश्वदृष्टि को मान्यता मिले और राष्ट्र से जुड़े अनेक समाजों में स्थित ज्ञान विज्ञान और विकास की परिभाषाओं को अप्रासंगिक करार दिया जाये उसमें मानव समाजों का शोषण निश्चित है। विकास के ऐसे फलसफे जिनसे प्रेरित योजनायें एक ज्ञानी को मजदूर में तब्दील कर दें और उसकी जीविका को अनिश्चित करते हुए उसे ऐसा भिखारी बना दें कि उसका जीवन निरंतर सरकार के रहम-औ-करम के अधीन रहे, स्वस्थ सामाजिकता और वैज्ञानिक स्वभाव का दावा नहीं कर सकते।

आदिवासी युगों से जंगलों से जुड़ा है और इनकी अंदरूनी गहराइयों की जानकारी रखता है पशु, पक्षी, और वनस्पति जगत में खुद के जीवन का संचालन करता आया है। यह समाज संस्कृति और प्रकृति के बीच का संतुलन बनाये रखने की विद्या का स्वामी है। इस समाज को जंगलों से बेदखल करने की नीति साफ तौर पर विवेकहीनता की प्रतीक है। यदि आदिवासियों का वनों पर कोई अधिकार नहीं, तो सरकारों और विकास के ठेकेदारों ने यह अधिकार कहाँ से हथिया लिया?

प्राकृतिक संसाधनों पर सरकारों का एकाधिकार घोषित करने से कारीगर समाज का अहित हुआ है। समाज के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के निर्माण से जुड़ा यह समाज आज सरकारों के रहम-औ-करम के अधीन होने पर विवश हो गया है क्योंकि कारीगरों को वस्तुओं के निर्माण हेतु कच्चे माल तथा अन्य संसाधनों की उपलब्धता सरकारी नीतिगत बात हो गई है। इस अधीनता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण बेलिहाज़ औद्योगीकरण है। परिणामवश कारीगर समाज में बेरोजगारी और लाचारी का माहौल है।

किसान, आदिवासी और कारीगर समाजों की खुशहाली का रहस्य उनके आपसी समन्वय और पारस्परिक क्रिया में है। किसान का जमीन से और आदिवासी का जंगल से रिश्ता माँ और संतान का है। इसलिए किसानों को उनके खेतों से और आदिवासियों को उनके जंगलों से विकास हेतु बेदखल करना सरासर गलत है।

विद्या और उससे जुड़े व्यवसाय से बेदखल होने पर जिंदगी का कोई मकसद ही नहीं रह जाता। समाज दिशाहीन हो जाता है और अन्य वर्गों और जातियों का आपसी ताल मेल बिखर जाता है क्योंकि इनसे जुड़ी इनकी आर्थिक व्यवस्था टूट जाती है। हर जानी और हुनरमंद इन्सान मात्र मजदूर बन कर रह जाता है जिस कारण गाँव से शहर की तरफ पलायन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। मान, सम्मान, हैसियत और विद्या से रिक्त व्यक्ति शहरों में उपहास का पात्र बन कर रह जाता है और उसका समस्त परिवार जिल्लत की जिन्दगी जीने पर विवश हो जाता है। विकास के फलसफों से निर्मित इन परिस्थितियों का इस्तेमाल अनेक राजनीतिक दल समाजों को मज़हब, जाति, आदि के आधार पर विभाजित कर वोट बटोरने में सक्रिय हो जाते हैं।

प्रश्न यह नहीं कि सरकारों द्वारा की गयी क्षतिपूर्ति लाखों या करोड़ों रुपयों में है प्रश्न यह है कि क्या किसी की विद्या और जिंदगी का मूल्य तय किया जा सकता है? ऐसा करना तो सभ्य समाज और सभ्य राष्ट्र की धारणाओं के विपरीत है। सभ्यता का बुनियादी तकाजा तो यह है कि हर व्यक्ति को उसके ज्ञान, विद्या, हुनर आस्था, और रुझान के बल पर समाज में अपना स्थान बनाने और खुद की जिंदगी जीने के विकल्प उपलब्ध हों।

लोकविद्या-स्वराज इस तथ्य को पहचानता है कि आदिवासी, किसान और उनसे जुड़े कारीगर खुद के विकास की नीतियां बनाने में न सिर्फ सक्षम हैं बल्कि ऐसी नीतियां बनाना उन्ही के अधिकार-क्षेत्र में हैं, और इस समझपर आधारित कार्यान्वयन को प्रोत्साहन देता है। जरूरत सिर्फ ऐसे निज़ाम को स्थापित करने की है जिसमें ऐसा संभव हो। सही अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना का अर्थ है लोकविद्या-स्वराज की स्थापना जिसमें जिंदगी जीने के विकल्पों में निरंतर वृद्धि होती रहे। ऐसा सिर्फ लोकविद्या के दायरों में निरंतर वृद्धि और विस्तार होने पर ही संभव है।

## 4. दलित समाज

पेशे से इस समाज के लोग खेतीहर मजदूर और कारीगर हैं। इसके अतिरिक्त यह लोग समाज से जुड़ी अन्य सेवाओं को कार्यान्वित करने में सक्षम हैं वातावरण को स्वच्छ रखने के ज्ञान और विधि में ये माहिर हैं, गाँव और शहर की बस्तियों के गंदी नालियों, सड़कों और पैखानों को यह बेहिचक साफ करते हैं ताकि गंदगी से उबरने वाली बीमारियाँ न फैलें, इसलिए स्वस्थ समाज सुनिश्चित करने हेतु यह प्रारंभिक स्वास्थ्य कर्मचारी की उपाधि के ये हकदार हैं। फिर भी समकालीन भारतीय समाज में यह वर्ग सामाजिक स्तर पर सबसे अधिक पीड़ित, तिरिस्कारित और शोषित है। इस वर्ग से अमानवीय व्यवहार भारतीय समाज पर अमिट धब्बा है।

स्वतंत्र भारत में किस प्रकार की उन्नति हुई है इसका डंका हर राजनीतिक दल के नेता बजाते हैं लेकिन दलितों के शोषण और अपमानित होने पर वोट बटोरने हेतु बेइन्तहा राजनीति करते हैं। ऐसी राजनीति में दलित नेता भी शामिल हैं। दलित के सवाल पर राजनीति करना इनकी विवशता है क्योंकि इनके विकास के फलसफों में लोकविद्या समाज की कोई भूमिका ही नहीं है। लोकविद्या-स्वराज में इनका उत्थान निहित है क्योंकि ऐसे विधान में हर व्यक्ति का अस्तित्व केवल उसकी विद्या से है।

## 5. मज़हबों के बीच सामंजस्य

भारतीय समाज से कई मज़हबों के लोग जुड़े हैं – वेद-वेदान्त, इस्लाम, ईसा, गुरु नानक, बुद्ध, महावीर, जरतुष्ट, आदि के अनुयायी। इनके अलावा आदिवासी समाजों की अपनी आस्थाएं हैं। ऐसी नास्तिक परम्पराएँ भी रही हैं जो वेदों को नहीं मानती। आधुनिक वैज्ञानिक सोच से लैस संदेहवादी और अज्ञेयवाद के समर्थक भी मौजूद हैं। समाज के हित के लिए इन सब का अस्तित्व और आपसी ताल-मेल अत्यावश्यक है। हर मज़हबी फलसफा एक न्यायपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करने का उपदेश देता है। सब ये मानें कि किसी भी मज़हब से जुड़ी वही मान्यताएं प्रासंगिक हैं जिनका कार्यान्वयन समस्त समाज का हित निश्चित करने के साथ किसी अन्य मज़हबी समूह के अस्तित्व और सम्मान को ठेस न पहुंचाता हो।

हर मज़हब से जुड़े सदस्यों से बनी परिषद की यह जिम्मेदारी हो कि वह समय-समय पर घटती अस्वीकार्य समाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए समाज के हित के लक्ष्य से न भटकने हेतु उन पर रोक लगायें।

हर व्यक्ति को किसी दूसरे मज़हब के ग्रन्थों का अध्ययन करने की स्वतंत्रता हो। इस पर रोक लगाना समाज को मज़हब के आधार पर विभाजित करने के फलसफे की पहली सीढ़ी है। मात्र ग्रन्थ का अध्ययन करने से किसी का मज़हब, स्वभाव, या चरित्र नहीं बदलता। व्यक्ति की अंतरात्मा, उसका ज़मीर, उसकी अंदरूनी सोच उसे किसी पुस्तक अथवा ग्रन्थ को अपने नज़रिये से समझने पर विवश कर देती हैं। यदि उसकी समझ समाज के हित के विपरीत है तो परिषद् उसपर रोक लगाने हेतु सक्षम है। वैसे भी हर युग और समाज में समाजविरोधी और अपराधिक तत्व पाये गये हैं और उनसे निपटने की व्यवस्थायें भी वजूद में रही हैं।

दूसरे मज़हबों के ग्रंथों का अध्ययन करने से मज़हब के ठेकेदारों को नियंत्रित करने की सम्भावना बनी रहती है। धर्मोपदेशकों की भूमिकाओं को सीमित करने में ऐसे अध्ययन बहुत कारगर सिद्ध हो सकते हैं। यह भी संभव है कि इन सब मज़हबों, आस्थाओं और नज़रियों के आपसी वार्तालाप से जिंदगी जीने की कोई नयी राह निकल आये।

**पंचायतें और जन-प्रतिनिधि**



लोकविद्या-स्वराज में पंचायतों की बहुत अहम् भूमिका है। समकालीन ग्राम पंचायतों के भौगोलिक परिसीमन को मध्यनज़र रखते हुए हर ऐसे क्षेत्र में तीन प्रकार की पंचायतों की कल्पना की गयी है जैसे कि, ज्ञान पंचायत, महापंचायत, और सामाजिक पंचायत। हर पंचायत की जिम्मेदारियां क्या होंगी और उनके गठन के तरीके क्या होंगे, इसपर कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत हैं।

## १. ज्ञान पंचायत

लोकविद्या-स्वराज में ज्ञान पंचायतों का महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान पंचायत लोकविद्या-स्वराज की पहली सीढ़ी है और उसका मूल आधार भी है। समकालीन ग्राम पंचायतों के भौगोलिक परिसीमन से तरह तरह की लोकाविद्याएं जुड़ी हैं। हर लोकविद्या समूह की अपनी अपनी ज्ञान पंचायत होगी।

इनके गठन का तरीका और इनकी भूमिका, समाज की प्रगति और विकास, के विषय में कुछ बिंदु इस प्रकार हैं

- हर विद्याधर की अपनी ज्ञान पंचायत होगी।
  - किसान (अनाज, सब्जी, फल, फूल, दाल, पशु पालन, मुर्गी पालन आदि )
  - आदिवासी ( किसान, वन संरक्षण शास्त्री, कारीगर, आदि )
  - दलित (खेती मज़दूर कारीगर, लोक-स्वास्थ्य कर्मचारी, आदि )
  - कारीगर ( लोहार, सुनार, स्वर्णकार, कुम्हार, तरखान, बुनकर, आदि )
  - महिलायें (उद्योग, घर-गृहस्थी, पाकशाला, आदि )
  - व्यापारी (फुटकर व थोक )
  - स्वास्थ्य (चिकित्सक व अन्य शल्यचिकित्सक )

हर ज्ञान पंचायत अपने व्यवसायों से जुड़ी समस्याओं पर विचार विमर्श करेगी और इनका समाधान खोजेगी। इस कार्य को सुचारु तरीकों से करते रहने के लिए किस प्रकार की संस्थाओं और सुविधाओं के निर्माण की आवश्यकता है, इसका निर्णय भी हर विद्याधर की ज्ञान पंचायत ही करेगी। ऐसे निर्माण के कार्यों में यदि किसी अन्य ज्ञान पंचायत की भूमिका तय हो तो बिना रोक टोक आपसी विचार विमर्श की सुविधा उपलब्ध रहेगी।

## २. महापंचायत

महापंचायत का गठन सभी ज्ञान पंचायतों के प्रतिनिधियों से होगा। ये प्रतिनिधि ज्ञान पंचायतों के सदस्यों में से चुने जायेंगे। हर प्रकार के उत्पाद की गुणवत्ता बढ़ाने के निरंतर प्रयास ज्ञान पंचायतें करेंगी, लेकिन उनके बाजार मूल्य कैसे तय हों, यह महापंचायत के चिंतन का विषय है। महापंचायत द्वारा निर्धारित दाम सबको मान्य होंगे। महापंचायत को यह विशेषाधिकार रहेगा कि उत्पादकों को हानि न हो यह सुनिश्चित करने के लिए यदि जरूरी समझे तो समय-समय पर निर्धारित मूल्यों पर पुनर्विचार करे।

महापंचायत के चिंतन का एक महत्वपूर्ण विषय है स्वास्थ्यविद्या और सुविधाओं में निरंतर वृद्धि हेतु बंदोबस्त करना। साथ ही समाज में हुए कारोबार से हुई धन राशि की उत्पत्ति में से एक हिस्सा आवंटित करना जिसे स्वास्थ्य से सम्बंधित कार्यों और चिकित्सा-विद्या में वृद्धि के लिए लगाया जा सके।

## ३. सामाजिक पंचायत

समाज के अनुभवी, विवेकशील और व्यावहारिक ज्ञान से लैस व्यक्ति इस पंचायत के सदस्य होंगे। ये सदस्य हर लोकविद्या समूह से होंगे - ऐसे व्यक्ति जिनके लिए समाज में मानवता से बड़ी कोई उपलब्धि नहीं। इनके चिंतन का विषय समाज में जुर्म शोषण और अराजकता को नियंत्रित करने और आपसी सहकार्य को बढ़ाने की व्यवस्थाओं पर विचार करना, उन्हें इजाद करना और बनाये रखना होगा। इन व्यवस्थाओं में सम्मिलित हैं,

- न्याय और कानून व्यवस्था
- हर मज़हब, जाति या लिंग के सदस्यों को उनके रुझान के मुताबिक विद्या सम्पादन करने का हक सुनिश्चित करना
- लोक संगीत, कला और साहित्य के सामाजिक-आर्थिक आधार को मजबूत करने पर विचार करना और इन क्षेत्रों के ज्ञान को प्रोत्साहित करना

कोई व्यक्ति मुजरिम पैदा नहीं होता। परिस्थितयाँ, उसकी निजी सोच या फिर लोभ उसे अवैध और अनैतिक कार्य करने पर विवश या प्रोत्साहित कर देती हैं, विशेषतः तब जब समाज

व्यवस्था ऐसे कामों पर नैतिक बंधन लगाने में अकार्यक्षम सिद्ध हुई हो। जैसे अगर समाज में उपभोक्तावाद को प्रोत्साहन देने पर कोई रोक-टोक न हो तो लोभ पर आधारित अनैतिक कार्यों को बढ़ावा तो मिलना ही है। गाँव या शहर में रहने वाले परिवार से जुड़े हर व्यक्ति की पहचान प्रथम तो उसके परिवार में होती है, उसके मोहल्ले, कार्यालय और उसके व्यवसाय से जुड़े लोगों में होती है। पहचान का अर्थ है उसका स्वभाव, चरित्र, सोच-समझ और आकांक्षाएं। इस दायरे के बाहर उसे न कोई जानता है न पहचानता है। अगर किसी समाज में उसकी यह पहचान उसे सम्मानजनक स्थान नहीं देती तो निरंतर तिरस्कारित होते रहने का एहसास गुनाहों को जन्म देता है। ये गुनाह तब कई प्रासंगिक रूप लेते हैं – जैसे सम्पत्ति विवाद, स्त्री के प्रति वासना, दहेज प्रथा, मज़हब और जाति।

वर्तमान आधुनिक न्याय व्यवस्था की मान्यता यह है कि कानून तो अँधा है यह कुछ देखता नहीं सिर्फ सुनता है और फैसला करता है। क्या नहीं देख पाता और किसको नहीं देख पाता यह न्यायाधीश? उस आरोपित व्यक्ति के स्वभाव, चरित्र, सोच-समझ और उन परिस्थितियों को जिन के होते अपराध होने का आरोप लगा है। यह न्यायाधीश आरोपी को नहीं पहचानता, गवाहों को नहीं पहचानता, पुलिस के लिखित बयानों और न्यायालय में दी गई गवाही पर बिना सवाल विश्वास करता है और दोनों पक्षों की अपने बचाव की या सबूतों को बनाने-मिटाने की सामाजिक-आर्थिक ताकत से वह कोई सरोकार नहीं रख सकता। समकालीन न्याय-व्यवस्था न केवल अंधी है बल्कि अन्धविश्वास पर आधारित है।

न्याय संगत व्यवस्था की मौलिक धारणा यह है कि यदि परिवार के आन्तरिक विवाद सुलझाने के प्रयासों में घर के बड़े अन्य सदस्यों को न्याय नहीं दिला पाते तो कोई भी बाहरी व्यवस्था उन्हें न्याय दिलवा नहीं सकती। इसी प्रकार यदि किसी क्षेत्र के आन्तरिक विवादों को उनकी पंचायत न्यायपूर्वक नहीं सुलझा पाती तो कहीं और न्याय नहीं मिल सकता। आरोप को सही या गलत तय करने से पहले यह निश्चित करना जरूरी है कि क्या आरोपित व्यक्ति तथाकथित गुनाह करने काबिल है या नहीं। केवल उसकी पहचान में ही इस प्रश्न का जवाब छुपा है।

यदि सही अर्थों में न्याय होना है तो क्या यह जरूरी नहीं कि न्याय करने वाले आरोपित व्यक्ति को पहचानते हों, उन परिस्थितियों से वाकिफ हों जिनके होते उसपर अपराध करने का आरोप है, घटना स्थल से वाकिफ हों और नज़दीकी से उसका निरीक्षण कर पायें? केवल सामाजिक पंचायतों की स्थापना से ही ऐसा संभव है।

कानून व्यवस्था बनाये रखने हेतु सामाजिक पंचायत हर प्रकार के भेद भाव से रिक्त, निगरानी समिति का चयन करेगी। इस समिति की जिम्मेदारी किसी भी प्रकार की अप्रिय, गैर- कानूनी और अनैतिक घटना को होने से रोकने की होगी। इन सब के चलते यदि कोई अप्रिय घटना घटी तो उसका विवरण समिति समाजिक पंचायत से करेगी और साथ में उस घटना से जुड़े हर व्यक्ति को पेश भी करेगी। यदि उस क्षेत्र में बसे लोगों को इस समिति से कोई शिकायत हो वे पंचायत को सीधे संबोधित कर सकेंगे।

हर मज़हब, जाति या लिंग के सदस्यों को उनका रुझान जिसमें हो वह विद्या अर्जित करने का हक सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक पंचायत को ऐसी शिक्षा प्रणालियां व्यवस्थित करने की जरूरत है जहां शुरू में नौजवान पीढ़ी को हर प्रकार के हुनर की प्रारंभिक शिक्षा दी जाती हो। तत्पश्चात हर विद्यार्थी को उसके रुझान तहत किसी विशेष विद्या को विस्तार से सीखने का मौका उपलब्ध होगा। इसमें लोक संगीत, कला और साहित्य जैसे क्षेत्र भी सम्मिलित होंगे।

## जन प्रतिनिधियों का चुनाव

कहने को हमारे देश में पंचायती राज की व्यवस्था गतिशील है। इसके तीन स्तर हैं:

- सबसे निचला स्तर : ग्राम पंचायत

- मध्य स्तर : पंचायत समिति
- उपरी स्तर : जिला परिषद्

ग्राम की परिकल्पना एक गाँव या फिर कई गाँव मिलाकर की गई है। यह उनमें बसे मतदाताओं की संख्या पर किया गया है। मतदाताओं की संख्या के आधार पर ही इस पूरे क्षेत्र को पाँच या इससे अधिक मतदाता वर्गों में विभाजित किया गया है। हर मतदाता वर्ग से एक प्रतिनिधि का चुनाव किया जाता है। इन चुने हुए प्रतिनिधियों से ग्राम पंचायत का गठन होता है।

जिले के हर खंड का प्रतिनिधित्व उनकी निजी पंचायत समितियां करती हैं। पंचायत समिति के सदस्यों का चुनाव उससे जुड़ी ग्राम पंचायतें करती हैं। पंचायत समिति की सदस्यता के लिए हर ग्राम पंचायत एक से तीन या इससे अधिक प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। इस प्रकार से पंचायत समिति का गठन होता है।

पूरे जिले का प्रतिनिधित्व जिला पंचायत करती है। जिला पंचायत के सदस्यों का चुनाव उससे जुड़ी पंचायत समितियां करती हैं। हर पंचायत समिति जिला पंचायत की सदस्यता के लिए एक से तीन या फिर इससे अधिक प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। इस प्रकार से जिला पंचायत का गठन होता है। जिला पंचायत में इनके अलावा इस जिले के विधान सभा और संसद सदस्य भी शामिल होते हैं।

संविधान के तहत पंचायती राज व्यवस्था के सिर्फ तीन स्तर हो सकते हैं। इस कारण ग्राम-सभा को पंचायती राज व्यवस्था के भीतर कोई संवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं है। ग्राम-सभा को साल भर में दो से चार बैठक आयोजित करने की अनुमति है। वह क्षेत्र के हित में कुछ योजनाएँ चालू करने के केवल सुझाव दे सकती है लेकिन पंचायती राज के तीन स्तरों पर लिए गये फैसलों में दखलंदाजी नहीं कर सकती।

यदि जिला पंचायत, पंचायत समिति और ग्राम पंचायत के कार्य क्षेत्र और जिम्मेदारियों पर एक नज़र डालें तो ऐसा प्रतीत होता है की जन समुदाय की जिंदगी से जुड़े हर पहलू जैसे स्वास्थ्य, रोजगार, साफ पानी, बिजली, सड़कें, व्यवसाय, आदि के साधनों का निर्माण करना इनका हक है। लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि हर स्तर पर सरकारों और राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप है। पंचायतों और समितियों की चुनावी प्रक्रिया में भी राजनीतिक दलों का प्रभाव है। इस कारण

केंद्र और प्रान्तों में बनी सरकारें और उनसे जुड़े राजनीतिक दलों ने पंचायती राज व्यवस्था को अर्थहीन बना दिया है।

इस बनी बनायी प्रशासन प्रणाली का इस्तेमाल लोकविद्या-स्वराज में जन प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु किया जा सकता है। ऐसे चुनावी तरीकों से दलों की राजनीति लोक-राजनीति में परिवर्तित हो सकेगी। लोकविद्या-स्वराज की दिशा में बढ़ने के उद्देश्य से इस प्रक्रिया के बारे में संवाद हेतु कुछ विचार यहां प्रस्तुत हैं।

- ग्राम पंचायत के स्थान पर ज्ञान और सामाजिक पंचायतों का गठन। ज्ञान और सामाजिक पंचायतों की परिकल्पना ग्राम पंचायत के जैसी ही हो सकती है। या आवश्यक हो तो इनमें बदलाव लाये जा सकते हैं। ज्ञान और सामाजिक पंचायतों की सदस्यता का विवरण इस लेख में ऊपर किया गया है।
- पंचायत समिति के सदस्य उस खंड की ज्ञान और सामाजिक पंचायत के सदस्यों में से होंगे, या फिर बाहर से। पंचायत समिति के सदस्यों को चुनने का काम ज्ञान और सामाजिक पंचायतें सर्व सम्मति से करने का प्रयास करेंगी। सहमति न होने पर आन्तरिक चुनाव हो सकता है। इस प्रक्रिया में कोई भी बाहरी दखल गलत मानी जायेगी और प्रतिबद्ध होगी।
- एक जिले से जुड़ी पंचायत समितियां जिला पंचायत का गठन करेंगी। पंचायत समिति का प्रतिनिधित्व जिला पंचायत में कितने सदस्य करेंगे, यह जिले की पंचायती समितियां आपसी समन्वय से तय करेंगी।
- संसद और विधान सभा के चुनावों के लिये क्षेत्रों का वर्गीकरण किया गया है: संसद चुनावी क्षेत्र और विधान सभा चुनावी क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों से कई जिले जुड़े हैं। हर जिले के लिये जिला पंचायत संगठित है।
- दोनों क्षेत्रों से जुड़ी जिला पंचायतें निजी क्षेत्रों में क्षेत्रीय विधान सभा और संसद को संगठित करेंगी। इनके सदस्य जिला पंचायतों से लिए जायेंगे, ऐसा करने के तरीके जिला पंचायतें आपसी समन्वय से तय करेंगी।
- हर प्रान्त की विधान सभा के सदस्य क्षेत्रीय विधान सभा के सदस्यों में से लिए जायेंगे।
- केन्द्रीय संसद के सदस्य क्षेत्रीय संसदों से लिए जायेंगे।

इस प्रकार से केन्द्रीय संसद और विधान सभाओं में विराजमान लोक प्रतिनिधि होंगे और दलों की राजनीति की कोई जरूरत न होगी। केन्द्रीय संसद के सदस्य प्रधान मंत्री, वित्त मंत्री, गृह मंत्री, विदेश मंत्री, आदि का चयन करेंगे। इसी प्रकार अन्य विधान सभाओं के सदस्य मुख्य मंत्री और अन्य मंत्रियों का चयन करेंगे।

इस तरीके से किये गये चुनावों में पूंजीपतियों और उद्योगपतियों की धनराशि की जरूरत न होगी। काले धन की उत्पत्ति में बड़े पैमाने पर कटौती होगी। मज़हब, जाति, लिंग और आरक्षण के आधार पर भारतीय समाजों का बटवारा न होगा। असामाजिक और अपराधी तत्व संसद और विधान सभाओं में विराजमान न होंगे। प्रकृति के विनाश और विस्थापन की प्रक्रिया पर रोक लगायी जा सकेगी।